भारतीय शिक्षा नीति, किस ओर ?

हृदय कान्त दीवान



भूमिका

2016 की भारत की शिक्षा नीति का स्थगित प्रारूप यथास्थितिवाद को सुदृढ़ करता है। प्रारूप में स्तरीकृत शिक्षा की मौन स्वीकृति, कठोरता से नियन्त्रित नतीजों व प्रतियोगिता पर बहुत अधिक ध्यान-केन्द्रित रखने और विकेन्द्रीकरण व शिक्षकों के सशक्तीकरण में असमर्थता के माध्यम से ऐसा हुआ है।

पृष्ठभूमि

इस बात का एहसास व्यापक स्तर पर है कि सरकारी स्कूलों का प्रदर्शन — विशेषकर ग्रामीण भारत में — अच्छा नहीं है और सीखने से सम्बन्धित उनके नतीजे भी बुरे ही हैं। कुछ बहुत ही अच्छे चलने वाले स्कूलों और समर्पित शिक्षकों के किस्से सुनने को मिल तो जाते हैं मगर अफसोस है कि वे भी संख्या में कम ही हैं। इसी के साथ-साथ हम यह भी जानते हैं कि निम्न, मध्यम और उच्च शुल्क वाले निजी स्कूल कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे हैं। इन्हें अँग्रेजी-माध्यम स्कूल के तौर पर प्रचारित किया जाता है और कई महत्त्वाकांक्षी ग्रामीण माता-पिता अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजने के लिए फीस देते हैं। बहुतों को लगता है कि ये निजी स्कूल अधिक अनुशासित और नियमित हैं और इनमें शिक्षक बच्चों पर अधिक ध्यान देते हैं, गृह-कार्य भी देते हैं और मूल्यांकन भी अधिक करते हैं। ये लोग इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि ये स्कूल अपेक्षित फीस भरने में असमर्थ लोगों की पहुँच से बाहर हैं। लेकिन इस बारे में सोचना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि युक्तिसंगत प्रतीत होने वाली एक दलील यह दी जाती है कि निजी स्कूल निम्न-खर्च के होते हुए भी बच्चों का सीखना सुनिश्चित कर पाते हैं। 2016 की शिक्षा-नीति और 2017 की अब भी अधर में लटकी नीति का मूल्यांकन करते समय इस परिदृश्य को ध्यान में रखना होगा कि जो बच्चे अच्छा माने जाने वाले स्कूलों में पढ़ रहे हैं और परीक्षाओं में जिनके नतीजे अच्छे देखने को मिलते हैं वे भी अवधारणात्मक कार्यों या प्रश्नों से निपटने में अच्छी तरह लैस प्रतीत नहीं होते। जो कि गाँवों और गरीबों के स्कूलों की तो हकीकत ही है।

नीति-विमर्श

नीति और उसे सूत्रबद्ध करने के तरीके का आकलन करने के मकसद से इस बात पर विचार करना लाभदायक होगा कि हमें शिक्षा पर नीतियों की आवश्यकता क्यों होती है। स्कूल तो कई शताब्दियों से चल ही रहे हैं, फिर हमें नीति की जरूरत क्यों पड़ी, यह सवाल इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि हम नीति बनाने की मौजूदा कोशिश को उस मापदण्ड पर जाँच सकें। स्वतन्त्रता-पूर्व के उस समयकाल में जाने के बजाए (जब शिक्षा के बारे में कोई सुबोध्य एवं स्पष्ट अखिल भारतीय समझ नहीं रही होगी) और वर्तमान स्थिति को शामिल करते हुए एक तुलनात्मक रूपरेखा के साथ संघर्ष करने की बजाए, बेहतर होगा कि शुरुआत भारतीय शिक्षा के प्रथम समग्र, व्यापक नीति-दस्तावेज और उसे सूत्रबद्ध किए जाने के तरीके को देखने से की जाए।

इस नीति-दस्तावेज में राष्ट्र की परिस्थितियों, देश के सामने अपरिहार्य बातों और शिक्षा की अपेक्षित भूमिका को ध्यान में रखा गया। इसके बाद मौजूदा हालात और चुनौतियों का ब्यौरा दिया गया और फिर मोटेतौर पर उद्देश्य सामने रखे गए। तदुपरान्त सम्भावित चुनौतियों को सम्बोधित किया गया और इन उद्देश्यों तक पहुँचने के सम्भव तरीके सुझाए गए। 1986 के नीति-दस्तावेज ने भी यही संरचना रखी और 1968 की नीति में अभिव्यक्त मुख्य लक्ष्यों, चिन्ताओं और आशाओं का पुनरावलोकन किया। दस्तावेज के कुछ खण्डों में इनमें से कुछ लक्ष्यों तक पहुँचने की कार्यविधियों की बात की गई और पाठ्यचर्या-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के बारे में सोच-विचार की शुरुआत की गई, जो बाद में राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यचर्या के कई सुव्यवस्थित निरूपणों तक ले गई।

राष्ट्र-निर्माण के लक्ष्यों के साथ शिक्षा का सम्बन्ध और लोकतान्त्रिक राज्य की राज्य व्यवस्था में उनकी भूमिका 1968 के दस्तावेज में कहीं अधिक स्पष्ट तौर पर दिखाई दी । हालाँकि यह दस्तावेज भारत के गैर-सम्भ्रान्त वर्ग के नवजागरण की रूपरेखा में जड़बद्ध था, समानता के प्रति चिन्ता उसमें मौजूद थी क्योंकि सभी लोगों को देश के तात्त्विक घटक के रूप में लिया गया था। 1986 की नीति, 1968 की नीति के कई अन्य बदलावों के साथ पहली बार, सीखने के

न्यूनतम स्तरों का विचार और लोगों को केवल नागरिक मानने की बजाए उन्हें राष्ट्र-निर्माण में संसाधन के रूप में देखे जाने के विचार लेकर आई।

संविधान-सभा की बहसों और उद्देशिका से हटकर इन नीतियों तक जो नीति-गत परिवर्तन हुआ वह धीरे-धीरे अपनी व्यापकता, अर्थ और उद्देश्य में संकुचित होता चला गया था। गाँधी जी की नई तालीम के पैरोकारों द्वारा शुरू की गई स्वतन्त्रता-पूर्व बहस ने कुछ चिन्ताओं को सामने रखा था। इनकी बुनियाद में मौजूद उद्देश्यों और निहितार्थ पर सवाल उठ सकते हैं लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि वे एक सार्वभौमिक शिक्षा नीति के हक में खड़े थे और यह अन्ततः अपनाई गई व लागू की गई नीति के मुकाबले अधिक सम्पूर्ण थी। 1968 की नीति ने नई तालीम के कुछ पक्षों पर बल जरूर दिया, जैसा कि उसके बाद के कुछ दस्तावेजों ने भी किया, लेकिन मुख्य जोर बल नागरिक की एक घटक की बजाए एक संसाधन के रूप में बदली हुई स्थिति को पहचानने और बनाए रखने पर था।

नीति उन संसाधनों के बारे में भी स्पष्ट बात रखती है जो उपलब्ध करवाए जाने होंगे और वांछित शासन व्यवस्था एवं मुख्य हितधारकों के प्रति कार्यपालिका के रवैये की बात भी करती है। वह ढाँचे की ओर भी इशारा करती है और सम्पूर्ण ढाँचे की कार्यविधियों के बारे में दिशा-निर्देश भी उसमें सन्निहित हैं। ये सब समीक्षा का हिस्सा रहे हैं। लेकिन उठाए जाने वाले विशेष कदमों और लगाए जाने वाले संसाधनों को लेकर नीतियों में कोई प्रतिबद्धता प्रदर्शित नहीं हुई। इसके उलट, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा—2005 (एन.सी.एफ.—2005) में नीति से अपेक्षित आशाएँ और सरकार की आवश्यक प्रतिबद्धताएँ स्पष्ट तौर पर अभिव्यक्त की गईं। यह याद करना रोचक होगा कि 'नई तालीम' अभियान ने शिक्षा में सरकार की हिस्सेदारी की आवश्यकता को पहचाना लेकिन साथ ही अड़ोस-पड़ोस के स्कूलों के बेहतर संचालन एवं उनके लिए वित्तीय सहायता देने में एक महत्त्वपूर्ण हितधारक के तौर पर समुदाय की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित किया। इसी के तहत यह दलील भी दी गई कि शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय का खुलासा होना चाहिए ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि धन वाजिब स्रोतों से आया है न कि शराब और ऐसे ही अन्य पदार्थों की बिक्री से, जो उचित नैतिक व्यवहार का हिस्सा न हों। यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक में एल्फिन्स्टन के कथन भी, हालाँकि वे नई तालीम की विचारधारा से बहुत अलग हैं, सामुदायिक स्वामित्व/मालिकाना की आवश्यकता की बात करते हैं।

अत: 2016 की नीति से आशा बहुत थी। इस नीति का एन.सी.एफ.—2005, उससे सम्बद्ध पोजिशन पेपर्स, और खासतौर से व्यवस्थागत सुधारों से सम्बन्धित पोजिशन पेपर के बाद आना महत्त्वपूर्ण था और आशा की जा रही थी कि नीतिगत विमर्श और उसे लागू किए जाने से सम्बद्ध कमियों को दूर करने की बात को इसमें सम्बोधित किया जाएगा। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि एन.सी.एफ.—2005 को आर.सी.एफ.टी.ई.—2009 के आधार-दस्तावेज के तौर पर संलग्न किया गया था — उम्मीद थी कि ये दोनों सीधे-सीधे, स्पष्ट तौर पर दिखाई देने वाली कमियों को दूर करेंगे। लेकिन नीति की ओर बढ़ने के दौरान ऐसा कुछ भी न हुआ। पिछली नीति की कोई समीक्षा नहीं की गई और मौजूदा चुनौतियों एवं स्थिति पर भी कोई रिपोर्ट तैयार नहीं की गई। यहाँ तक कि लोगों और देश की अभिलाषाओं से जुड़े परिप्रेक्ष्यों का भी पर्याप्त रूप से मिलान नहीं किया गया। बल्कि यह मनमाने ढंग से बनाए गए प्रश्नों का मिलान था जिनके इर्द-गिर्द चर्चा हुई, जबकि उन्हें अर्थपूर्ण और भागीदारीपूर्ण बनाने के लिए कोई तर्कसंगत कार्यप्रणाली भी नहीं थी। इस तरह यह अभ्यास शिक्षा के अधिकार के कुछ प्रावधानों के इर्द-गिर्द हो रहे शोर-शराबे को ठण्डा करने मात्र तक सीमित रहा। इसी परिप्रेक्ष्य में हम शिक्षा का अधिकार—2009 के मुख्य बिन्दुओं को विश्लेषित करेंगे।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम—2009

शिक्षा का अधिकार नेक इरादों का प्रदर्शन भर था; हालाँकि एक अर्थ में कहा जा सकता है कि इसने शिक्षा को सब बच्चों का अधिकार बनाने का प्रयास किया। लेकिन समता का सिद्धान्त और सार्वजनिक/साझा स्कूल का विचार काफी हद तक कमजोर पड़ गया। निजी स्कूलों में 25 प्रतिशत स्थान आर्थिक तौर पर वंचित बच्चों के लिए आरक्षित किए जाने का अर्थ था कि स्कूली शिक्षा की स्तरीकृत व्यवस्था को सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार कर लिया गया था।

इस अनकही स्वीकृति और वैधता प्रदान किए जाने के अलावा बहुत खुले तौर पर दो अन्य महत्त्वपूर्ण कमियाँ दिखाई दीं। एक तो यह कि स्कूलों को प्रतिपूर्ति की रकम उनके द्वारा ली जाने

वाली फीस के अनुसार नहीं बल्कि सरकार द्वारा स्वयं, मनमाने तरीके से तय की गई राशि थी। दूसरा, इन बच्चों को निजी स्कूलों के अत्यन्त प्रतिस्पर्द्धात्मक वातावरण में सफल हो पाने के लिए कोई अतिरिक्त सहायता नहीं दी जा रही थी। इसके अलावा, अधिक साधन-सम्पन्न माता-पिता एवं सम्भ्रान्त पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों द्वारा इन वंचित बच्चों के साथ किए जाने वाले तिरस्कारपूर्ण व्यवहार को भी ध्यान में नहीं रखा गया। और न ही अभी भी उसे सामने लाया जाता है क्योंकि अधिकतर सम्भ्रान्त स्कूल इन 'कोटा' बच्चों के साथ अलग ही तरह का व्यवहार रखते हैं।

वित्त सम्बन्धी कमियाँ

शिक्षा के अधिकार में एक और बड़ी कमी उसके उद्देश्यों को सम्भव बना पाने के लिए वित्तीय प्रतिबद्धता का न होना था। शिक्षा व्यवस्था को चलाने वाले नौकरशाहों को दण्डित करने के या सुधार के कोई कदम नहीं थे। ज्ञानार्जन के लिए जवाबदेही केवल अभिभावकों, बच्चों और शिक्षकों की ही रखी गई थी। अन्य सब लोगों का काम तो बस बुनियादी ढाँचा और कैसी भी गुणवत्ता के शिक्षक मुहैया करवाना व आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आँकड़े पैदा करना था। शिक्षकों को निर्देशित किया जा सकता था, उन्हें बिना कोई जवाबदेही तय किए स्कूल के समय में गैर-शिक्षण कार्य दिए जा सकते थे। विडम्बना यह, कि अपराधी होने बाबत निर्णय और दोष तय करने का काम भी स्थानीय या राज्य सरकार के विभागों को उपयुक्त प्राधिकारी मानते हुए उन पर ही छोड़ दिया गया।

रौब-जमाऊ निगरानी

शिक्षा का अधिकार के बाद के सालों में नौकरशाही द्वारा स्कूलों में आपूर्ति के हालात पर पैबन्द लगाने और आधा सच लिए हुए आँकड़े तैयार करने के काम किए जाते रहे हैं। दूसरी ओर, उसके द्वारा स्कूल और शिक्षकों के लिए स्वायत्तता हेतु कोई जगह नहीं छोड़ी जाती। शिक्षकों के पास कर्ता के रूप में शक्ति का इस्तेमाल करते हुए भूमिका निभाने का कोई मौका नहीं रहता। सालों से चली आ रही रौब-जमाऊ निगरानी और निरंकुश दिशा-निर्देशन ने उनके विश्वास को हिला दिया है और जोश को पस्त कर दिया है। शिक्षक-शिक्षा ने भी नौकरशाही प्रकृति इख्तियार कर ली है और इसमें इतना भ्रष्टाचार आ चुका है कि शिक्षक विश्वास के साथ पढ़ाने में भी सक्षम नहीं महसूस करते। शिक्षक-शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रमाणीकरण की ओर प्रवृत्त है। जो कुछ भी शिक्षा के अधिकार के दस्तावेज में और निगरानी की इन प्रणालियों के तहत कहा गया, वह बच्चे को कक्षा में न रोके रखने की भावना के विपरीत था जबकि उस नीति का मकसद बच्चों को अधिक सहायता और समय देने का था। इस नीति की व्याख्या कुछ इस तरह की गई कि बच्चे चाहे किसी भी पृष्ठभूमि से हों, उन्हें एक चमत्कार की तरह किसी भी कक्षा की विषयवस्तु और उससे सम्बद्ध क्षमताओं को सीख लेना चाहिए। नतीजा यह, कि स्कूलों और बच्चों को जाँच एवं असहानुभूतिपूर्ण विशेषज्ञों द्वारा किए जाने वाले बाह्य मूल्यांकनों से सम्बद्ध दबावों की बाढ़ का सामना करना पड़ा,जिन्होंने कभी भी कक्षाओं में पढ़ाया नहीं था और जिन्हें इन स्कूलों के बच्चों की पृष्ठभूमि के बारे में समझ भी नहीं थी।

इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए 2016 की नई शिक्षा नीति के सामने दो तरह की मुख्य चुनौतियाँ थीं : प्रथम, शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करना और दूसरा, शिक्षा का शासन एवं उसका क्रियान्वयन। इस बात की बहुत गहन आवश्यकता थी कि समुदाय को इस प्रक्रिया के केन्द्र में रखा जाए और साथ ही शिक्षा-व्यवस्था के रवैये को परिवर्तित किया जाए। इसमें शामिल था कि ग्रामीण क्षेत्रों के पिछड़े हुए तबकों की आवाज स्कूलों में सुनी जाए और वंचित पृष्ठभूमियों से आने वाले लोगों को सम्पूर्ण स्कूली व्यवस्था द्वारा सम्मान दिया जाए।

नीति से निराशा

2016 की कवायद में नीति की विचार-स्थापना इन सब पहलुओं में गम्भीर तौर पर निराशाजनक रही। सर्वप्रथम तो प्रक्रिया ही दोषपूर्ण थी। नई नीति अब भी विकसित की ही जा रही है और यह अस्पष्ट है कि वर्तमान नीति की दिशा कितनी बनी रहेगी और सुझावों में से भी कितने रहेंगे। इसके अलावा रूपरेखा भी अभी अनुमान पर आधारित और अनिश्चित है — प्रक्रिया, शर्तों और टीम के बारे में कम ही स्पष्टता है। सुब्रमण्यन कमेटी रिपोर्ट से पहले मानव संसाधन विकास मंत्रालय की ओर से एक नीति-कथन आया था। इस दावे के बावजूद कि यह देश भर में हुए व्यापक परामर्श पर आधारित है, इस प्रक्रिया में तीन बड़ी महत्त्वपूर्ण कमजोरियाँ रहीं। पहली बात तो यह कि प्रक्रिया की शुरुआत पिछले नीति दस्तावेज

के व्यापक एवं सर्वांगीण मूल्यांकन, उसकी क्रियान्वयन-सम्बन्धी स्थिति और चुनौतियों से नहीं हुई। यह विशेष तौर से इसलिए आवश्यक था कि बीच में एन.सी.एफ. के दस्तावेज और एन.सी.एफ.—2005 से सम्बद्ध पोजीशन-पेपर भी आए जिनमें व्यवस्था की कार्यप्रणाली पर टिप्पणियाँ की गई थीं और जिनके नीति के लिए भी निहितार्थ थे। इस तरह के विश्लेषण की कमी के चलते, नीति से सम्बद्ध यह परामर्श इच्छित उत्तरों की ओर इशारा करने वाले ऐसे फुटकर प्रश्नों पर आधारित था जो बुनियादी प्रतिबद्धताओं और शिक्षा के अर्थपूर्ण उद्देश्य को नजरअन्दाज करते थे।

दूसरी कमी परामर्श के तौर-तरीके और कार्यवाइयों की रिकॉर्डिंग और दस्तावेजीकरण की अपर्याप्तता से सम्बद्ध थी।

तीसरा, जो कुछ एकत्र किया गया और जिसका मिलान किया गया, उसे भी शायद सरसरी तौर पर ही देखा गया। संकीर्ण परिप्रेक्ष्य के पार जाने का कोई प्रयास किया गया हो, ऐसा नहीं लगता। नीति द्वारा जिन आवश्यक विषयों सम्बोधित करना चाहिए, वे हैं : लोगों के जीवन, राज्य और सरकार से शिक्षा का सम्बन्ध; शिक्षा की भूमिका और उद्देश्य; शिक्षा का स्वामित्व और वित्तीय आपूर्ति। आवश्यकता यह बताए जाने की भी थी कि एन.सी.एफ.—2005 के सिद्धान्तों का नवीनीकरण किया जाएगा कि नहीं — और यदि हाँ, तो बदलाव किस तरह का होगा। इसके बजाए नीति में कुछ गुप्त मान्यताएँ थीं। यह स्पष्ट नहीं था कि नीति-परामर्श में से निकलने वाले कौन से कदमों को हाथ में लिया जाएगा।

नतीजा यह है कि स्तरीकृत व्यवस्था की असमानताओं को चुनौती दिए जाने की बजाए स्वीकार कर लिया गया है। बुनियादी धारणा यह है कि शिक्षा अर्थव्यवस्था के लिए ईंधन का काम करती है और कुछ बच्चे अन्य के मुकाबले अधिक योग्य एवं लायक होते हैं और इन्हें शुरू से ही चिह्नित करके पोषित करने की जरूरत होती है। एक नजरिया यह दिखाई देता है कि अधिकतर बच्चे अकादमिक या प्रशासनिक नौकरियों में नहीं जाएँगे और इसलिए उन्हें शिक्षा की कोई महत्त्वपूर्ण जरूरत नहीं है। उन्हें तो बस कुछ बुनियादी यान्त्रिक दक्षताओं की आवश्यकता होगी ताकि वे सस्ती मजूरी का काम बुद्धिपूर्वक कर पाएँ और विज्ञापित बाजार के उपभोक्ता बन पाएँ। उनके लिए किसी साझा समृद्ध कक्षा-कक्ष या अपेक्षाओं की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें अर्थव्यवस्था में किसी निम्न दर्जे की भूमिका के लिए प्रशिक्षित पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।

इस तरह, सबके लिए समतामूलक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लक्ष्य तक पहुँचने में व्यवस्था की असफलता पर प्रश्न उठाने की बजाए नीति ने इसे अपनी भूमिका के रूप में स्वीकार कर लिया। यह स्पष्ट तौर पर दिखाई दे रहा था कि इन्सान को राष्ट्र के लाभ के लिए इस्तेमाल की जाने वाली पूँजी के रूप में देखा जा रहा है न कि अधिकारों और कर्तव्यों वाले एक नागरिक के तौर पर।

शिक्षा का उद्देश्य

यह भी साफ था कि शिक्षा को एक दक्षता-विकास एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम के रूप में व्याख्यायित किया जा रहा था। यानी सीधे तौर पर स्वीकारा जा रहा है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य तो नौकरी हासिल करना है। जीवन के अनुभव और उल्लास को समृद्ध करने में सार्वभौमिक शिक्षा की सारभूत आवश्यकता के विचार को उपेक्षित किया गया था और किया गया है। जिस प्रकार उसे परिभाषित किया गया और जिस तरह से वह आगे बढ़ी है, उसमें इस बात की कोई वकालत नहीं की गई है कि ग्रामीण गरीब अपने बच्चों की शिक्षा में कुछ निवेश करें।

शिक्षा के सामने आज एक मुख्य चुनौती स्कूल चलाने के खर्च से सम्बन्धित है। अपेक्षा तो यह थी कि नीति इस बात को खरे तौर पर स्वीकारेगी कि शिक्षा पर अधिक निवेश की आवश्यकता है और अब तक अधर में लटके कदमों को ठीक करेगी। लेकिन नीति का झुकाव तो दूसरी ओर ही है। भावना और वास्तविकता, दोनों स्तरों पर, उपलब्ध संसाधनों और उनके इस्तेमाल में कटौती की गई है। नीति इस आवश्यकता को अभिव्यक्ति नहीं देती कि स्कूल और शिक्षक की बच्चों, उनके अभिभावकों और समुदाय के प्रति सबसे महत्त्वपूर्ण जवाबदेही है। वह समुदाय को भागीदार के तौर पर देखते हुए शिक्षा के उद्देश्य को पुन: खोजने की आवश्यकता की बात नहीं करती और न ही समुदाय को वार्तालाप और क्रियान्वयन में शामिल करने लाने की बात करती है। इसके उलट, मसविदे से स्पष्ट तौर पर लेने वाली बातें ये हैं कि बच्चों के साथ

भिन्नतापूर्वक व्यवहार किया जा सकता है और अधिकतर बच्चों को दक्षताओं में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

शासन का सवाल

शासन और प्रशासन के सवाल को सम्बोधित करने में नीति असफल रही है जबकि इसे सबके लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सम्भव बनाने के रास्ते में एक बड़े अवरोध के रूप में पहचाना गया है। शिक्षकों, बच्चों और समुदाय को आदर एवं प्रोत्साहन देने वाली, केन्द्रीकरण को कम करने की ओर अग्रसर, जरूरत से अधिक शासन और दमनकारी एवं विवेकहीन निगरानी को त्यागने वाली एक निष्पक्ष और सहायक व्यवस्था की आवश्यकता को भुला दिया गया है।

इस आवश्यकता पर कई साल पहले, 2005 में व्यवस्थागत सुधार के पोजीशन-पेपर में भी बल दिया गया था। यह मुद्दा कई जगहों पर कार्यक्रमों और संरचनाओं की समीक्षा के दौरान बार-बार उठता रहा है। नीति की रूपरेखा में यह शामिल नहीं था। इसीलिए सिफारिशें अधिक निगरानी, अधिक जाँच और स्कूलों एवं शिक्षकों पर अधिक दबाव की ओर प्रवृत्त हैं। यह इस बात की मौन स्वीकृति को ही सुदृढ़ करता है कि कुछ बच्चे तो सीमित शिक्षा हासिल करने के लिए ही हैं एवं सरकारी ढाँचे और प्रणालियाँ तो काम नहीं कर पाएँगे और इसलिए सभी स्तरों पर निजीकरण किया जाए।

शिक्षकों को जकड़ने पर केन्द्रित ध्यान

नई नीति शिक्षकों को केन्द्र में रखे जाने और उन्हें विकल्पों का चुनाव करने के लिए सशक्त किए जाने के विचार की जाँच-पड़ताल नहीं करती – इस विचार की भी नहीं, कि शिक्षकों को अपने विचार बच्चों के साथ मिलकर विकसित करने और खँगालने की अनुमति दी जाए या नहीं दी जाए। नीति उनके हतोत्साहित होने और उनके अलगाव के स्रोतों पर नजर नहीं डालती। नीति और उसके इर्दगिर्द के विमर्श ने विकेन्द्रीकरण, स्वायत्तता और साझा जिम्मेदारी के लिए व्यावहारिक कार्यप्रणालियाँ निर्मित करने की कोशिश ही त्याग दी है।

मानदण्डों और परिणामों के मिथकों पर — और उनसे जुड़ी अत्यधिक प्रतियोगिता और चिन्ता पर — सवाल नहीं उठाए गए हैं। तैयारी तो यह है कि इन सबको तीव्रता प्रदान करने वाले घटकों को स्थान मिले। पृष्ठभूमियों की विविधता का और समतामूलक अवसरों के निर्माण के लिए आवश्यक धैर्य का आदर नहीं किया गया है और न ही सीखने का उत्सव मनाने की बात को पहचाना गया है। बल्कि यह तो समरूपीकरण है और सीखने के विशिष्ट उद्देश्यों एवं अपेक्षाओं के आधिपत्य का जबरदस्ती थोपा जाना है जिसमें विभिन्न पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों के लिए धैर्य की आवश्यकता के प्रति समानुभूति का अभाव है।

स्तरीकरण का तीव्र और सामाजिक विभाजनों की खाई का चौड़ा होना

समता के इर्दगिर्द आम राय बनाए जाने से सवाल उठते हैं — ग्रामीण और शहरी के बीच की असमानता एवं इससे भी अधिक, ग्रामीण समाज में होने वाले स्तरीकरण को ले कर सवाल। आर्थिक विकास ने ग्रामीण भारत में अभिलाषाओं के लिए स्थान बनाया है, शहरी वस्तुओं का उपभोग और बुनियादी, मूलभूत शहरी ढाँचे और शिक्षा व्यवस्था में निवेश उपयुक्त प्रतीत होता है। किन्तु जैसे-जैसे भूमि और अर्थव्यवस्था पर दबाव बढ़ेगा, स्थिति और अधिक बिगड़ेगी।

शिक्षा-नीति ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है और ताकतवर एवं प्रभुत्वशाली लोगों के हितों को बल दिया है। विमर्श की प्रकृति को ध्यान में रखें तो नई नीति से कुछ आशाएँ थीं मगर इससे भी अधिक उसको लेकर भय थे। बातचीत पहले से अधिक दबावों और शुरू से ही विशेषज्ञता के इर्दगिर्द है जबकि सम्पूर्णता लिए हुए, समावेशी और बहुल शिक्षा के विचारों को त्याग दिया गया है। ऐसा लगता है कि शिक्षा की सार्वजनिक व्यवस्था के लिए सहायता और वादा किए गए संसाधन मुहैया करवाने की बात को पीछे धकेल दिया गया है।

प्रतीत तो यह होता है कि व्यवस्थागत सुधारों के लिए उठाए गए कदम शिक्षक और स्कूल को पहले से भी अधिक, प्रशासन के इशारों पर और आदेशों नाचने के लिए बाध्य करेंगे। सबसे अधिक ध्यान इस ओर दिया जा रहा लगता है कि एक छलनी और एक औजार के तौर पर शिक्षा का एक सीमित उद्देश्य बस ऐसे उपयोगी नागरिक तैयार करने का रह जाए जो सक्षमता के साथ बाजार का इस्तेमाल कर सकें।

नीति को फिलहाल ताक पर रख दिया गया है, लेकिन सरकार का बढ़ता हस्तक्षेप, निर्देशित मूल्यांकन एवं निगरानी

मॉनिटरिंग के प्रयास नीति के क्रियान्वयन की दिशा का संकेत देते हैं। ऐसा लगता है कि शिक्षा का ध्यान सीमित, संकीर्ण, मापे जाने लायक नतीजों तक केन्द्रित करने की एक आम सहमति बना ली गई है। हर तरह की संस्थाओं और बच्चों की तमाम किस्म की विविधताओं के लिए एक से पैमाने तय करने से न केवल शैक्षिक लक्ष्य बल्कि वंचित पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों की सम्पूर्ण शिक्षा खतरे में हो सकती है। कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे निजी स्कूल और शायद सरकारी ढाँचे के बाहर की नेक-इरादा शैक्षिक संस्थाएँ-संगठन, सभी का ध्यान ऐसे प्रोग्राम और सामग्री विकसित करने पर है जो स्कूल की पाठ्यचर्या-सम्बन्धी आशाओं को घटाकर केवल परीक्षण तक सीमित कर दे। इस प्रक्रिया में, और अन्यथा भी, शिक्षक को स्टोर-कीपर बना दिया जाएगा जिसका काम बस सामग्री के वितरण और वापस लेने भर का होगा। बच्चों और स्कूल के सन्दर्भ एवं वातावरण को ध्यान में रखें तो शिक्षा विद्यार्थियों के बीच और विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के बीच एक निरन्तर वार्तालाप है - इस विचार का स्थान एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा लिया जा रहा है जिसे हम सामान्य रूप में इनपुट-आउटपुट प्रक्रिया कह सकते हैं। स्कूल के अर्थ को सीमित कर दिए जाने के साथ शैक्षिक व्यवस्था में बच्चों को 'कमजोर विद्यार्थी' और 'अच्छे विद्यार्थी' के वर्गों में अलग करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा—2005 के सबसे महत्त्वपूर्ण निर्माणकारी सिद्धान्तों में से कुछ को, जिनमें संविधान की प्रस्तावना की संवैधानिक प्रतिबद्धता के समीप आने की कोशिश थी, ताक पर रखने की मौन सहमति शिक्षा-नीति के चिह्नित क्षेत्रों, प्रश्नों और छंटनीय वर्गों में प्रतिबिम्बित होती है। नीति-सम्बन्धी घटनाओं के बारे में पारदर्शिता का न होना भी चिन्ता का विषय है। उठाए जाने वाले विचारणीय कदम साझा नहीं किए जा रहे, न ही यह जानकारी है कि नीति-विकास की प्रक्रिया भंग कर दी गई है या अब भी जारी है।

(Adopted from Dewan H.K., http://www.villagesquare.in/ 2016/ 12/05/new-educationpolicy-fails-address issues-equity/)

References:

1. National Policy of Education 1968, Section 4.2, pg 38, Department of Education, GOI
2. National Policy of Education 1986, MHRD, GOI, Section 3.2, 4.6, 5.9, 5.157.1, 7.2, 7.3, 9.1 and 9.2.
3. The Programme of Action 1992 , Department of Education MHRD Delhi
4. National Curricular Framework 2005, Chapter 5, pg 101, NCERT
5. The Right of Children to Free and Compulsory Education 35 of 2009, Sections 12, 23, 24, 27, 29 (2h) GOI, 26 August, 2009
6. Dewan, H.K., Mahadale, A., Towards a New Education Policy Directions and Considerations, Economic & Political Weekly, NOVEMBER 28, 2015, Vol l No. 48
7. Dewan, H.K., मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम: कुछ विचारणीय बिन्दु, Mool Prashan, Editorial pg 2-6, February-April, 2010
8. Dewan, H.K., Dimensions of Quality Education- Situation, Challenges and the Way Forward in report on, Right to Education papers and proceedings of a Consultation, page 46, Ajit Foundation 2016
9. Dewan, H.K., Dewan, S., Poor Learning among Socially Marginalised Children: Socio-Cultural Factors and Challenges, Presentation at National Conference on "Factors of Poor Learning: Challenges, Opportunities and Practices for Learning Improvement in Socially Diverse Elementary Schools of India" 2 to 4 September, 2016, New Delhi

हृदय कान्त दीवान वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं। वे 'एकलव्य' के स्थापना-समूह के सदस्य एवं विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के परामर्शदाता रहे हैं। वे पिछले 40 वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग ढंग से कार्यरत रहे हैं। वे विशेष तौर से शैक्षिक नवाचार और राज्य के शैक्षिक ढाँचों में परिवर्तन के लिए प्रयासों से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे hardy.dewan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** रमणीक मोहन **अनुवाद सम्पादन :** हिमालय तहसीन